RESEARCH COMMUNICATIONS
(An International Open Access, Peer Reviewed, Multidisciplinary Online Journal)
https://research-communications.cmpcollege.ac.in
C. M. P. DEGREE COLLEGE
(A Constituent P.G. College, University of Allahabad)

Volume-3, Issue-2, July-December 2025, pp 160-166 ISSN: 2584-1270
DOI: doi.org/10.65719/RC.3.2.2025.160

21वीं सदी में न्यायिक सक्रियता: एक आलोचनात्मक विश्लेषण

अरुण कुमार वर्मा[1] एवं अभय तिवारी[2]

[1]असिस्टेंट प्रोफेसर[2] एवं शोध छात्र
राजनीति विज्ञान विभाग, सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (उ.प्र)
ई-मेल: *abhaytiwari807@gmail.com*

सारांश

21वीं सदी में भारतीय न्यायपालिका की भूमिका में गुणात्मक परिवर्तन देखने को मिला है, जहाँ न्यायिक सक्रियता पारंपरिक न्यायिक समीक्षा की सीमाओं से आगे बढ़कर शासनात्मक हस्तक्षेप का रूप ले चुकी है। मौलिक अधिकारों की रक्षा, विधायी निष्क्रियता और प्रशासनिक विफलताओं की पृष्ठभूमि में न्यायपालिका ने स्वयं को प्रायः लोकतंत्र का अंतिम संरक्षक के रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन न्यायपालिका कीइस सक्रिय भूमिका ने शक्तियों के पृथक्करण, लोकतांत्रिक जवाबदेही और संस्थागत संतुलन से संबंधित गंभीर संवैधानिक प्रश्न भी उत्पन्न किए हैं।यह शोध-लेख 21वीं सदी में भारतीय न्यायिक सक्रियता की प्रकृति, विस्तार और प्रभाव का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है। अध्ययन का केंद्रीय तर्क यह है कि समकालीन न्यायिक सक्रियता अब केवल अधिकारों की रक्षा तक सीमित न रहकर नीति-निर्माण और प्रशासनिक नियंत्रण की दिशा में अग्रसर हो गई है, जिससे न्यायिक समीक्षा और शासन के बीच की संवैधानिक रेखा धुंधली होती जा रही है। लेख में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत, जनहित याचिका, न्यायिक समीक्षा और संस्थागत क्षमता जैसे सैद्धांतिक ढाँचों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता का परीक्षण किया गया है। यह अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि यद्यपि न्यायिक सक्रियता ने कई मामलों में शासन की विफलताओं को भरने और संवैधानिक मूल्यों को सशक्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, परंतु इसकी असीमित प्रवृत्ति लोकतांत्रिक शासन के लिए उतनी ही चुनौतीपूर्ण हो सकती है। अतः लेख एक संतुलित, सीमाबद्ध और संवैधानिक रूप से उत्तरदायी न्यायिक सक्रियता की आवश्यकता पर बल देता है।

मूल शब्द: *न्यायिक सक्रियता,शक्ति पृथक्करण, ,लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व, जनहित याचिका, न्यायिक अतिक्रमण, भारतीय संविधान।*

परिचय

भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में न्यायपालिका को एक विशिष्ट और केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। पिछले तीन दशकों में भारतीय न्यायिक व्यवस्था में उल्लेखनीय और व्यापक परिवर्तन हुआ है। इस अवधि में न्यायपालिका का न केवल संस्थागत विस्तार हुआ है, बल्कि उसकी प्रक्रिया, कार्यशैली, क्षेत्राधिकार तथा उद्देश्यों में भी मौलिक परिवर्तन हुआ है। जहाँ आरम्भ में न्यायपालिका का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत विवादों का निपटारा करना था, वहीं अब उसका लक्ष्य सामाजिक न्याय की प्राप्ति भी बन गया है। समकालीन संदर्भ में न्यायपालिका केवल न्याय प्रदान करने तक सीमित नहीं रही है, बल्कि वह एक प्रशासक, सुधारक, अन्वेषक तथा नीति-निर्माता की भूमिका भी निभाने लगी है। दूसरे शब्दों में, न्यायपालिका अब ऐसे अनेक कार्य संपादित कर रही है जो परंपरागत रूप से कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार में आते हैं। इस प्रक्रिया में न्यायपालिका प्रायः औपचारिक और पारंपरिक सीमाओं की उपेक्षा करते हुए अधिक सक्रिय और प्रभावी भूमिका निभा रही है। न्यायपालिका की यही विस्तारित और हस्तक्षेपकारी भूमिका 'न्यायिक सक्रियता' के रूप में अभिहित की जाती है, जिसका मूल उद्देश्य

नागरिकों के अधिकारों की प्रभावी रक्षा सुनिश्चित करना है। किंतु 21वीं सदी में भारतीय न्यायिक सक्रियता ने एक ऐसे चरण में प्रवेश कर लिया है, जहाँ वह केवल न्यायिक निगरानी तक सीमित न रहकर शासन के विभिन्न क्षेत्रों में निर्णायक हस्तक्षेप करने लगी है।[1]

समकालीन भारत में विधायी निष्क्रियता, प्रशासनिक विफलता और जटिल सामाजिक-आर्थिक संकटों ने न्यायपालिका के लिए हस्तक्षेप के नए अवसर उत्पन्न किए हैं। सार्वजनिक हित याचिकाओं, निरंतर न्यायिक निगरानी (continuing mandamus) और विस्तृत संवैधानिक व्याख्या के माध्यम से न्यायालय ने पर्यावरण संरक्षण, प्रशासनिक सुधार, राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक नीति जैसे क्षेत्रों में महत्वपूर्ण निर्देश जारी किए हैं। इस प्रक्रिया में न्यायिक सक्रियता का स्वरूप अधिकार-केन्द्रित न्यायिक समीक्षा से आगे बढ़कर शासनात्मक भूमिका (governance-oriented adjudication) में परिवर्तित हो गया है। यह परिवर्तन भारतीय संवैधानिक लोकतंत्र के संस्थागत ढाँचे के लिए गहन निहितार्थ रखता है।

यह प्रवृत्ति एक मौलिक संवैधानिक द्वंद् उत्पन्न करती है। एक ओर, न्यायिक सक्रियता को विधायी एवं कार्यकारी विफलताओं की पूर्ति करने वाला एक आवश्यक लोकतांत्रिक उपकरण माना जाता है,वहींदूसरी ओर, यही सक्रियता शक्तियों के पृथक्करण, लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व और संस्थागत सीमाओं को कमजोर करने की संभावना भी उत्पन्न करती है। न्यायपालिका को वैधता संविधान से प्राप्त होती है,न कि प्रत्यक्ष जनादेश से। जब वह नीति-निर्माण और प्रशासनिक नियंत्रण जैसे क्षेत्रों में निर्णायक भूमिका ग्रहण करती है, तो यह प्रश्न उठता है कि क्या वह अपनी संवैधानिक भूमिका के भीतर कार्य कर रही है या लोकतांत्रिक शासन के क्षेत्र में अतिक्रमण कर रही है?

न्यायिक सक्रियता का अर्थ

न्यायिक सक्रियता आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्रों में न्यायपालिका की भूमिका के विस्तार को व्यक्त करने वाली एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामान्यतः न्यायपालिका का कार्य कानूनों की व्याख्या करना और विवादों का समाधान करना माना जाता है, किंतु जब न्यायालय इस पारंपरिक भूमिका से आगे बढ़कर सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में सक्रिय हस्तक्षेप करने लगता है, तब उसे न्यायिक सक्रियता कहा जाता है। यह प्रवृत्ति विशेष रूप से उन परिस्थितियों में विकसित होती है जहाँ विधायिका और कार्यपालिका अपने संवैधानिक कर्तव्यों के निर्वहन में विफल होती हैं या नागरिकों के अधिकारों की प्रभावी रक्षा करने में असमर्थ रहती हैं।[2]

Black's Law Dictionaryके अनुसार, "न्यायिक सक्रियता वह न्यायिक दर्शन है जिसके अंतर्गत न्यायालय संविधान और कानूनों की सक्रिय व्याख्या कर सामाजिक न्याय और व्यक्तिगत अधिकारों को बढ़ावा देता है।"[3]

एस.पी.साठे के अनुसार,"न्यायिक सक्रियता वह प्रक्रिया है जिसमें न्यायपालिका विधायिका और कार्यपालिका की विफलता से उत्पन्न रिक्तता को भरते हुएनागरिकों के अधिकारों की रक्षा और संविधान के उद्देश्यों को पूरा करती है।"[4]

उपेन्द्र बख्शीके अनुसार, "न्यायिक सक्रियता वह दृष्टिकोण है जिसमें न्यायपालिका स्वयं को सामाजिक परिवर्तन और संवैधानिक न्याय का माध्यम मानती है।"[5]

सरल शब्दों में, न्यायिक सक्रियता का अर्थ है- कार्यपालिका के कार्यो को न्यायपालिका द्वारा ग्रहण करना।न्यायिक सक्रियता का आशय इस परिभाषा से अधिक स्पष्ट हो जाता है जिसमें कहा गया है कि, "यह एक सक्रिय सजग एवं कर्तव्य परायण न्यायपालिका द्वारा कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में संवैधानिक दायित्व के निर्वहन का एक व्यावहारिक किन्तु अपरम्परागत ढंग है।"[6]

न्यायिक सक्रियता का संवैधानिक आधार

न्यायिक सक्रियता का प्रत्यक्ष संवैधानिक आधार संविधान के उन प्रावधानों में निहित है, जो न्यायालयों को विधि की समीक्षा, मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन तथा संवैधानिक व्याख्या की व्यापक शक्तियाँ प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 13, 32, 141, 142, और 226 सामूहिक रूप से न्यायालयों को मौलिक अधिकारों के अर्थ की व्याख्या, प्रवर्तन और विस्तार करने का अधिकार प्रदान करते हैं।

अनुच्छेद 13 के अनुसार, मौलिक अधिकारों के विरुद्ध बनाए गए सभी विधि,नियम शून्य होंगे। इस प्रावधान के माध्यम से न्यायालयों को यह शक्ति प्राप्त होती है कि वे असंवैधानिक कानूनों को निरस्तकर सकें, जिससे संविधान की सर्वोच्चता सुनिश्चित होती है।

अनुच्छेद 32, जिसे डॉ. भीमराव अंबेडकर ने संविधान का "हृदय और आत्मा" कहा था, नागरिकों को संवैधानिक उपचारों का अधिकार प्रदान करता है। इसके अंतर्गत कोई भी व्यक्ति अपने मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए सीधे सर्वोच्च न्यायालय जा सकता है। यह प्रावधान न्यायिक सक्रियता को एक सशक्त संवैधानिक आधार प्रदान करता है।

अनुच्छेद 226 उच्च न्यायालयों को समान शक्तियाँ प्रदान करता है, जिससे न्यायिक सुरक्षा की बहु-स्तरीय प्रणाली सुनिश्चित होती है।

इसके अतिरिक्त,अनुच्छेद 141 और 142 सर्वोच्च न्यायालय को बाध्यकारी विधि घोषित करने तथा "पूर्ण न्याय" सुनिश्चित करने हेतु आवश्यक आदेश पारित करने की शक्ति देते हैं। ये प्रावधान भारतीय न्यायिक सक्रियता को संवैधानिक सृजनशीलता का आधार प्रदान करते हैं।[7]

न्यायिक सक्रियता एवं जनहित याचिका

भारत में न्यायिक सक्रियता का सर्वाधिक सशक्त और संस्थागत रूपजनहित याचिका (Public Interest Litigation) के माध्यम से विकसित हुआ है, जिसने संवैधानिक न्यायनिर्णयन को संकीर्ण प्रक्रियात्मक औपचारिकता से मुक्त कर उसे वस्तुगत सामाजिक न्याय का प्रभावी उपकरण बना दिया।लोकस स्टैंडीके पारंपरिक सिद्धांत में शिथिलता लाकर उच्चतर न्यायपालिका ने उस परिवर्तन को संभव किया, जिसेउपेन्द्र बख्शीने "पारंपरिक न्यायनिर्णयन से सामाजिक कार्यवाही न्यायशास्त्र की ओर संक्रमण" के रूप में अभिहित किया है[8], जिसके परिणामस्वरूप न्यायालय समाज के निर्धन, वंचित वर्गों की समस्याओं पर प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने में सक्षम हुए। PILन्यायिक सक्रियता का वह प्रमुख माध्यम बना, जिसके द्वारा विशेष रूप से अनुच्छेद 21 की व्याख्या को मात्र राज्यीय हस्तक्षेप के विरुद्ध नकारात्मक अधिकार से आगे बढ़ाकर गरिमापूर्ण जीवन, आजीविका, स्वास्थ्य, पर्यावरण तथा मानवीय अस्तित्व से संबद्ध सकारात्मक अधिकारों के स्रोत के रूप में विकसित किया गया।इस प्रक्रिया में न्यायपालिका ने नीति-निर्देशक तत्वों से वैचारिक और नैतिक प्रेरणा ग्रहण कर न्यायोचित अधिकारों और संवैधानिक आकांक्षाओं के मध्य विद्यमान पारंपरिक विभाजन को पर्याप्त सीमा तक समाहित किया। न्यायपालिका की यह भूमिकान्यायमूर्ति पी.एन.भगवतीद्वारा प्रतिपादित "करुणा-आधारित न्यायशास्त्र" की अवधारणा को मूर्त रूप प्रदान करती है, जिसमें संवैधानिक नैतिकता को शाब्दिक विधिक व्याख्या से ऊपर स्थान दिया गया है। PIL के माध्यम से न्यायिक सक्रियता ने संवैधानिक उत्तरदायित्व, सहभागी न्याय तथा लोकतांत्रिक समावेशन को सुदृढ़ किया है, फिर भी इसकी दीर्घकालिक वैधता इस बात पर निर्भर करती है कि न्यायपालिका अपने हस्तक्षेप में सैद्धांतिक संयम बनाए रखे, जिससे यह प्रवृत्ति शासन के विकल्प के रूप में नहीं, बल्कि शासन-विफलता के विरुद्ध एक संवैधानिक संरक्षक के रूप में कार्य करे।[9]

भारत में न्यायिक सक्रियता

भारत में न्यायिक सक्रियता का विकास केवल न्यायिक निर्णयों की क्रमिक शृंखला नहीं है, बल्कि यह न्यायपालिका की संवैधानिक भूमिका, उत्तरदायित्व और कार्य-पद्धति में आएपरिवर्तन को प्रतिबिंबित करता है। इस विकासक्रम को विश्लेषणात्मक रूप से दो स्पष्ट चरणों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम चरण,जो संविधान के प्रवर्तन से लेकर 1990 के दशक के उत्तरार्ध तक विस्तृत है, कोअधिकार-स्थापना एवं न्याय-प्रवेश उन्मुख न्यायिक सक्रियताके रूप में चिह्नित किया जा सकता है। इस कालखंड में न्यायपालिका का केंद्रीय उद्देश्य संविधान की सर्वोच्चता स्थापित करना, मौलिक अधिकारों की विषयवस्तु का विस्तार करना तथा प्रक्रियात्मक औपचारिकताओं को शिथिल कर न्याय तक व्यापक पहुँच सुनिश्चित करना था।केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973)[10] में प्रतिपादितमूल संरचना सिद्धांतने संविधान संशोधन की सीमाएँ निर्धारित कर न्यायपालिका को संवैधानिक वैधता का अंतिम संरक्षक बना दिया, जिसे H. M.Seervai ने भारतीय संवैधानिक व्यवस्था मेंन्यायिक समीक्षा को एक

संवैधानिक नियंत्रण-तंत्र [11] (judicial review as a controlling mechanism)के रूप में रेखांकित किया है। इसी प्रकार, मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) द्वारा अनुच्छेद 21 की उदार व्याख्या ने जीवन के अधिकार को मात्र औपचारिक प्रक्रिया से मुक्त कर न्यायसंगत और तर्कसंगत मानकों से जोड़ा। इस चरण मेंहुसैनारा खातून, एस.पी. गुप्तातथाबंधुआ मुक्ति मोर्चाजैसे मामलों के माध्यम से जनहित याचिका का विकास हुआ, जिसेउपेन्द्र बख्शीने "अभिजात-केन्द्रित न्याय से वंचित-उन्मुख सामाजिक कार्यवाही न्यायशास्त्र की ओर संक्रमण"[12] के रूप में परिभाषित किया है। इस प्रकार, पूर्व-2000 न्यायिक सक्रियता मूलतः सुधारात्मक और मुक्ति-केन्द्रित रही, जिसका लक्ष्य संवैधानिक आदर्शों को सामाजिक यथार्थ में रूपांतरित करना था।

वर्ष 2000 के पश्चात् न्यायिक सक्रियता का दूसरा चरणशासन-केन्द्रित एवं संरचनात्मक न्यायिक सक्रियताके रूप में विकसित होता है, जिसमें न्यायपालिका का हस्तक्षेप अधिकारों की घोषणा से आगे बढ़कर उनके कार्यान्वयन की निरंतर निगरानी तक विस्तृत हो गया। इस चरण की विशेषतासतत निगरानी, विशेषज्ञ समितियों की नियुक्ति तथा संस्थागत सुधार हेतु दीर्घकालिक न्यायिक पर्यवेक्षण है।

न्यायिक सक्रियता से जुड़े महत्वपूर्ण निर्णय- 2000 के बाद

वर्ष 2000 के पश्चात् न्यायिक सक्रियता का दूसरा चरणशासन-केन्द्रित एवं संरचनात्मक न्यायिक सक्रियताके रूप में विकसित होता है, जिसमें न्यायपालिका का हस्तक्षेप अधिकारों की घोषणा से आगे बढ़कर उनके कार्यान्वयन की निरंतर निगरानी तक विस्तृत हो गया। इस चरण की विशेषतासतत निगरानी, विशेषज्ञ समितियों की नियुक्ति तथा संस्थागत सुधार हेतु दीर्घकालिक न्यायिक पर्यवेक्षण है।2000 के बाद के निर्णय यह दर्शाते हैं कि भारत में न्यायिक सक्रियता अधिकारों की व्याख्या तक सीमित न रहकर शासन-सुधार (governance correction) की दिशा में विकसित हुई है;

1. अशोक कुमार ठाकुर बनाम भारत संघ(2008)

यह निर्णय केन्द्रीय शैक्षणिक संस्थानों में OBC आरक्षणकी संवैधानिक वैधता से संबंधित था। सर्वोच्च न्यायालय ने 93वें संविधान संशोधन को वैध ठहराते हुए सामाजिक न्याय और समानता के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि आरक्षण का उद्देश्य ऐतिहासिक वंचना की पूर्ति है, किंतु यह समानता के सिद्धांत (Article 14) के विपरीत नहीं होना चाहिए। इसी संदर्भ में Creamy Layer सिद्धांतको OBC आरक्षण पर भी लागू किया गया, जिससे अपेक्षाकृत समृद्ध वर्ग को लाभ से वंचित किया जा सके। यह निर्णयन्यायिक आत्म-संयम (judicial restraint) का उदाहरण है, क्योंकि न्यायालय ने नीति-निर्धारण का अधिकार विधायिका को सौंपते हुए केवल संवैधानिक सीमाएँ निर्धारित कीं। यह निर्णय न्यायिक सक्रियता और न्यायिक संयम के संतुलित प्रयोग को दर्शाता है।[13]

2. सेंटर फॉर पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन बनाम भारत संघ (2012)

2G स्पेक्ट्रम मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने दूरसंचार लाइसेंसों के आवंटन कोमनमाना और असंवैधानिकघोषित करते हुए उन्हें निरस्त कर दिया। न्यायालय ने अनुच्छेद 14 के तहतस्वेच्छाचारिताके सिद्धांत तथालोक न्यास सिद्धांतको आधार बनाकर यह कहा कि प्राकृतिक संसाधनों का आवंटन पारदर्शी और निष्पक्ष प्रक्रिया से होना चाहिए। इस निर्णय द्वारानीलामी को प्राथमिक विधिके रूप में स्थापित किया गया। यह निर्णयभ्रष्टाचार-निरोधी न्यायिक सक्रियताका प्रमुख उदाहरण है, किंतु आलोचक मानते हैं कि न्यायालय ने नीति-निर्माण के क्षेत्र में प्रवेश कर कार्यपालिका के विवेक को सीमित कर दिया। फिर भी, संवैधानिक दृष्टि से यह निर्णय शासन में उत्तरदायित्व और पारदर्शिता को सुदृढ़ करता है।[14]

3. शायरा बानो बनाम भारत संघ (2017)

इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय नेतत्काल तीन तलाक (Triple Talaq) की प्रथा को असंवैधानिक घोषित किया। न्यायालय ने अनुच्छेद 14 और 21 के आधार पर यह कहा कि यह प्रथा मनमानी है और महिलाओं की गरिमा का उल्लंघन करती है। यह निर्णयलैंगिक न्यायऔरसंवैधानिक नैतिकताके सिद्धांत को मज़बूत करता है। न्यायालय ने धार्मिक स्वतंत्रता (Article 25) को पूर्ण न मानते हुए उसे मौलिक अधिकारों के अधीन रखा। यह निर्णय भारतीय न्यायिक सक्रियता केपरिवर्तनकारीस्वरूप को दर्शाता है, जहाँ न्यायपालिका सामाजिक सुधार की भूमिका में उभरती है।[15]

4. नवतेज सिंह जौहर बनाम भारत संघ (2018)

इस ऐतिहासिक निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने IPC की धारा 377 को सहमति-आधारित समलैंगिक संबंधों के संदर्भ में असंवैधानिक घोषित किया। न्यायालय नेगरिमा, निजता और समानताको अनुच्छेद 21 और 14 का अभिन्न अंग माना। इस निर्णय नेसंवैधानिक नैतिकता(Constitutional Morality)को सामाजिक नैतिकता पर वरीयता दी। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि संविधान बहुसंख्यक नैतिकता से नहीं, बल्कि व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा से निर्देशित होता है। यह निर्णय न्यायिक सक्रियता केमानवतावादी और अधिकारोन्मुखस्वरूप का उत्कृष्ट उदाहरण है।[16]

2000 के पश्चात् भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए कुछ निर्णय ऐसे भी हैं जिनमें न्यायिक सक्रियता, संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई प्रतीत होती है। इन मामलों में न्यायालय का हस्तक्षेप केवल संवैधानिक उल्लंघन के परीक्षण तक सीमित न रहकर, नीति-निर्धारण और प्रशासनिक विवेक के क्षेत्र में प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है।

PUCL बनाम भारत संघ (2001)मेंन्यायालय नेअनुच्छेद 21 (जीवन का अधिकार)की विस्तृत व्याख्या करते हुए यह स्थापित किया कि"भूख से मुक्ति और न्यूनतम पोषण"जीवन के अधिकार का अभिन्न अंग है। इस प्रकार, 'भोजन के अधिकार' को अनुच्छेद 21 के अंतर्गत प्रवर्तनीय बनाकर तथा कल्याणकारी योजनाओं के कार्यान्वयन हेतु निरंतर निर्देश जारी कर न्यायालय ने नीति-निर्देशक तत्वों को प्रभावी रूप से न्यायोचित अधिकार में रूपांतरित कर दिया।

न्यायालय द्वारा अपनाया गयासतत निगरानी(Continuing Mandamus)का सिद्धांत प्रशासनिक जवाबदेही सुनिश्चित करने का प्रभावी उपकरण बना। हालांकि, आलोचनात्मक दृष्टि से यह निर्णयन्यायिक अतिक्रमणकी बहस को जन्म देता है, क्योंकि न्यायालय ने खाद्य नीति और कल्याणकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में सक्रिय भूमिका निभाई।[17]

टी. एन. गोदावर्मन थिरुमुलपादवादमालामें न्यायपालिका नेनिरंतर परमादेश (continuing mandamus)के माध्यम से पर्यावरणीय शासन पर दीर्घकालिक न्यायिक नियंत्रण स्थापित किया, जिससे न्यायपालिका एक निर्णायक प्रशासक के रूप में उभरी।यह प्रकरण प्रारंभतः वन संरक्षण अधिनियम, 1980 के उल्लंघन से संबंधित था, किंतु कालांतर में यह देशव्यापीवन प्रशासन और पर्यावरणीय शासनकी न्यायिक निगरानी में परिवर्तित हो गया।यह वादमालालोक न्यास सिद्धांतऔरसतत विकासकी अवधारणा को तो सुदृढ़ करती है लेकिन दीर्घकालिक न्यायिक निगरानी ने प्रशासनिक विवेक और शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को आंशिक रूप से क्षीण किया है।[18]

इसी क्रम में,कृषि कानून मामला (2021)भारतीय संवैधानिक न्यायशास्त्र में न्यायपालिका की भूमिका को लेकर एक जटिल और विवादास्पद प्रश्न उपस्थित करता है। इस प्रकरण मेंउच्चतम न्यायपालिकाने 2020 के तीन कृषि कानूनों के क्रियान्वयन परअंतरिम स्थगनलगाते हुए एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया, जबकि इन कानूनों की संवैधानिक वैधता पर अंतिम निर्णय लंबित था। यह हस्तक्षेप पारंपरिकन्यायिकसमीक्षासे आगे बढ़करसंवैधानिक शासन-प्रबंधन का रूप लेता प्रतीत होता है।[19]

इसी प्रकार, पेगासस जासूसी प्रकरण (2021)में तकनीकी विशेषज्ञ समिति का गठन राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे संवेदनशील नीतिगत क्षेत्र में न्यायिक हस्तक्षेप के विस्तार को दर्शाता है।[20]

इसके अतिरिक्त, COVID-19 प्रबंधन से संबंधित मामलों (2020-21) में ऑक्सीजन आपूर्ति, दवाओं के वितरण और टीकाकरण नीति पर दिए गए विस्तृत निर्देश न्यायालय को अस्थायी रूप सेसंकट प्रशासक(crisis administrator)के रूप में प्रस्तुत करते हैं।स्पष्ट है कि ऐसे निर्णयों में न्यायपालिका ने संरक्षक की भूमिका से आगे बढ़कर शासन के प्रतिस्थापक के रूप में कार्य किया है, जो संवैधानिक संतुलन और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्वदोनों के लिए चुनौतीपूर्ण है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से, इन निर्णयोंको न्यायिक अतिक्रमणकी श्रेणी में रखा जा सकता है, क्योंकि न्यायालय ने विधायी नीति कीबुद्धिमत्ताऔरराजनीतिक स्वीकार्यताके प्रश्नों में प्रत्यक्ष प्रवेश किया। संविधान न्यायालय को कानूनों की संवैधानिकता जाँचने का अधिकार देता है, न कि सामाजिक असहमति के समाधान हेतु मध्यस्थता करने का।[21]

निष्कर्ष

यह अध्ययन स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि 21वीं सदी में भारतीय न्यायपालिका की भूमिका में एक स्पष्टगुणात्मक परिवर्तनपरिलक्षित होता है, जहाँ न्यायिक सक्रियता पारंपरिक न्यायिक समीक्षा की सीमाओं से आगे बढ़कर शासनात्मक प्रक्रियाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने लगी है।उच्चतम न्यायालयद्वारा मौलिक अधिकारों की विस्तृत और विकासशील व्याख्या, तथा विधायी निष्क्रियता एवं प्रशासनिक विफलताओं पर किया गया हस्तक्षेप, न्यायपालिका को संवैधानिक लोकतंत्र में एक सशक्त संरक्षक के रूप में स्थापित करता है। इस संदर्भ में,उपेन्द्र बख्शी का यह मत विशेष रूप से प्रासंगिक है कि भारतीय न्यायपालिका ने कई अवसरों पर समाज के पीड़ित और उपेक्षित वर्गों की पीड़ा(governance of the suffering) को संवैधानिक विमर्श का केंद्र बनाते हुए उन्हें न्यायिक संरक्षण प्रदान किया है, तथापि, यह अध्ययन यह भी दर्शाता है कि समकालीन न्यायिक सक्रियता कई मामलों में अधिकार-रक्षा के दायरे से आगे बढ़करनीति-निर्देशन और प्रशासनिक पर्यवेक्षणकी दिशा में अग्रसर हो गई है, जिसके परिणामस्वरूप न्यायिक समीक्षा और शासन के बीच की संवैधानिक सीमा-रेखा क्रमशः धुंधली होती जा रही है। यह प्रवृत्ति शक्तियों के पृथक्करण और लोकतांत्रिक जवाबदेही से संबंधित गंभीर प्रश्नों को जन्म देती है। इस संदर्भ में, H. M. Seervai का यह कथन उल्लेखनीय है कि न्यायपालिका की वैधता नीति-निर्माण में नहीं, बल्कि संविधान की निष्ठावान और सीमाबद्ध व्याख्या में निहित होती है। न्यायिक सक्रियता और जनहित याचिका के विस्तारित प्रयोग ने गंभीर सिद्धांतात्मक और संस्थागत प्रश्न भी उत्पन्न किए हैं। नीति-निर्माण और प्रशासनिक क्षेत्रों में बढ़ते न्यायिक हस्तक्षेप ने शक्तियों के पृथक्करण, लोकतांत्रिक वैधता और संस्थागत संतुलन को लेकर आशंकाएँ उत्पन्न की हैं। कई मामलों में सतत निगरानी और विस्तृत निर्देशात्मक आदेशों ने यह प्रश्न खड़ा किया है कि क्या न्यायपालिका अपने संवैधानिक क्षेत्र से आगे बढ़कर शासन के अन्य अंगों की भूमिका का अतिक्रमण कर रही है। इस संदर्भ में न्यायिक सक्रियता और न्यायिक अतिक्रमण के बीच की सीमा रेखा धुंधली होती प्रतीत होती है।

अतः 21वीं सदी की न्यायिक सक्रियता को न तो पूर्णतः लोकतांत्रिक विचलन के रूप में देखा जाना चाहिए, न ही निरपेक्ष संवैधानिक समाधान के रूप में। यह एकसंक्रमणशील संवैधानिक युक्ति हैजो राज्य की विफलताओं को अस्थायी रूप से संबोधित करती है, पर स्वयं दीर्घकालिक लोकतांत्रिक विकल्प नहीं बन सकती। भारतीय संवैधानिक लोकतंत्र की स्थिरता इसी सैद्धान्तिक बोध में निहित है कि न्यायपालिकासक्रिय अवश्य रहे, किंतु अपने संस्थागत विस्तार की सीमाओं के प्रति निरंतर सचेत भी बनी रहे।

सन्दर्भ सूची

1. सईद, एस. एम. (2016). *भारतीय राजनीतिक व्यवस्था*. भारत बुक सेंटर.
2. Sathe, S. P. (2002). *Judicial activism in India: Transgressing borders and enforcing limits*. Oxford University Press.
3. Garner, B. A. (Ed.). (2019). *Black's Law Dictionary* (11th ed.). West Academic Publishing.
4. Sathe, S. P. (2002). *Judicial activism in India: Transgressing borders and enforcing limits*. Oxford University Press.
5. Baxi, Upendra (1985). "Taking Suffering Seriously: Social Action Litigation in the Supreme Court of India." *Third World Legal Studies*, *Vol. 4*, Article 6.
6. सईद, एस. एम. (2016). *भारतीय राजनीतिक व्यवस्था*. भारतबु कसेंटर.
7. Jacob, J. Y. (2025). Judicial activism and the protection of constitutional rights: A socio-legal analysis of India's evolving jurisprudence. *Journal of Advanced Academic and Fundamental Research (JAAFR)*, *3*(11). ISSN 2984-889X.
8. Baxi, Upendra (1985). "Taking Suffering Seriously: Social Action Litigation in the Supreme Court of India." *Third World Legal Studies*, *Vol. 4*, Article 6.
9. Sathe, S. P. (2002). *Judicial activism in India: Transgressing borders and enforcing limits*. Oxford University Press.
10. *Kesavananda Bharati v. State of Kerala*, (1973) 4 SCC 225.
11. Seervai, H. M. (1991). *Constitutional law of India* (4th ed.). Universal Law Publishing.
12. Baxi, Upendra (1985). "Taking Suffering Seriously: Social Action Litigation in the Supreme Court of India." *Third World Legal Studies*, *Vol. 4*, Article 6.

13. *Ashoka Kumar Thakur v. Union of India*, (2008) 6 SCC 1 (India).
14. *Centre for Public Interest Litigation v. Union of India*, (2012) 3 SCC 1 (India).
15. *Shayara Bano v. Union of India*, (2017) 9 SCC 1 (India).
16. *Navtej Singh Johar v. Union of India*, (2018) 10 SCC 1 (India).
17. *People's Union for Civil Liberties (PUCL) v. Union of India*, (2001) 5 SCC 50 (India).
18. *T. N. GodavarmanThirumulpad v. Union of India*, (1997) 2 SCC 267 (India).
19. *Rakesh Vaishnav v. Union of India*, (2021) 4 SCC 1 (India).
20. *Manohar Lal Sharma v. Union of India*, (2021) 10 SCC 1 (India).
21. Jacob, J. Y. (2025). Judicial activism and the protection of constitutional rights: A socio-legal analysis of India's evolving jurisprudence. *Journal of Advanced Academic and Fundamental Research (JAAFR)*, *3*(11). ISSN 2984-889X.